अभाव प्रमाण—एक चिन्तन

—श्री रमेश मुनि शास्त्री
(उपाध्याय श्रीपुष्करमुनिजी के सुशिष्य)

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण इन दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान के दो प्रकार हैं—यथार्थ और अयथार्थ। जो ज्ञान सही निर्णायक है, वह यथार्थ है, जिसमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होता है, वह यथार्थ नहीं है। संशय आदि दोषों से रहित यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है। प्रमाण के द्वारा प्रमेयात्मक पदार्थ-स्वरूप को जानने के पश्चात् ही मानव अपने अभीष्ट विषय की प्राप्ति और अनिष्ट विषय के परिहार के लिये तत्पर होता है।

जिसका निश्चय किया जाय, उसे प्रमेय कहते हैं और जिस ज्ञान के द्वारा समग्र-पदार्थ का सुनिश्चय किया जाय, उस सर्वांशग्राही बोध को प्रमाण कहते हैं। प्रमेयात्मक पदार्थ का नय और प्रमाण से सु-निश्चय किया जाता है। ज्ञाता का वह अभिप्राय-विशेष नय कहलाता है।[1] अनेक दृष्टिकोण से परिष्कृत वस्तु तत्त्व के एकांशग्राही ज्ञान को नय कहते हैं। नय प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है। प्रमाण सर्वांशग्राही है और नय अंशग्राही है। प्रमाण यदि सिन्धु है तो नय बिन्दु है। प्रमाण यदि सूर्य है तो नय रश्मिजाल है। प्रमाण सर्वनय रूप है। प्रमाण के दो भेद हैं। प्रथम प्रकार, "प्रत्यक्ष" है और द्वितीय प्रकार है—परोक्ष।[2] प्रत्यक्ष प्रमाण की दो प्रधान शाखाएँ हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। प्रथम शाखा परमार्थाश्रयी है एतदर्थ यह वास्तविक प्रत्यक्ष है। और दूसरी शाखा व्यवहाराश्रयी है एतदर्थ यह औपचारिक प्रत्यक्ष है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में केवल आत्मा की सहायता रहती है।

प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होते हैं जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी अन्ततः द्रव्य की असाधारण स्थितिरूप ही फलित होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप-चतुष्टय से सत् होता है और पर-रूप-चतुष्टय से असत् है। प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है।[3] पदार्थ सद्-असदात्मक है। उसमें सद् अंश को भाव और असद् अंश को अभाव या प्रतिषेध कहा गया है। वह अभाव चार प्रकार का कहा गया है।[4] उनके नाम इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रागभाव । ३. अत्यन्ताभाव ।
२. प्रध्वंसाभाव । ४. अन्योन्याभाव ।

यह ध्रुव सत्य है कि द्रव्य की न उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है । किन्तु पर्याय की उत्पत्ति होती है और उसी का विनाश होता है । प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और वही पर्याय रूप से कार्य होता है । जो पर्याय उत्पन्न होने जा रहा है वह उत्पत्ति के पहले पर्याय रूप में नहीं है । अतएव उसका जो अभाव है, वह प्रागभाव है । घट-पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक वह सत् नहीं है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है, उसे घट का प्रागभाव कहा जाता है ।

द्रव्य का कभी भी विनाश नहीं होता है । पर्याय का विनाश होता है । अतएव कारण-पर्याय का विनाश कार्य-पर्याय रूप होता है । कोई भी विनाश सर्वथा अभाव रूप या तुच्छ न होकर उत्तर-पर्याय रूप होता है । घट पर्याय विनष्ट होकर कपाल-पर्याय बनता है । अतएव घट-विनाश कपाल रूप है जिसे प्रध्वंसाभाव कहा जाता है ।

एक पर्याय का दूसरे पर्याय में जो अभाव है, वह इतरेतराभाव है, जिसे अन्यापोह भी कहते हैं । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से निश्चित है । एक का स्वभाव दूसरे का नहीं होता । एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है ।

इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिकों में विभिन्न प्रकार के विचार प्रवृत्त हैं । कोई दार्शनिक अभाव को मानते ही नहीं है, कोई उसे कल्पित मानते हैं, कोई उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, कोई उसे अभावात्मक मानते हैं और कोई उसे भाव-स्वरूप मानते हैं ।

पुनः इस अभाव-प्रमाण के विषय में कई अभिमत हैं । प्रमाण, प्रमेय-साधक होता है, इसमें कोई वाद-विवाद नहीं है । फिर भी सत्य की कसौटी सब की एक नहीं है । एक ही पदार्थ के निर्णय के लिये दार्शनिकों द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रमाण माने गए हैं ।

यदि यह कहा जाय कि अभाव निःस्वरूप होने के कारण असिद्ध है । तो यह आशंका अनुचित है । क्योंकि जैन दर्शन के अभिमतानुसार अभाव-पदार्थ भाव-स्वभाव वाला है । अतएव वह निःस्वरूप नहीं है । यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि भाव-स्वभाव वाले प्रागभावादि अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है ? जैन दार्शनिकों के अभिमत के अनुसार ऋजुसूत्रनय और प्रमाण के द्वारा उन (प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि) की सिद्धि हो जाती है । जैसा कि कहा है—नय प्रमाणादिति और ऋजुसूत्रनयापर्णादिति ।[5] वर्तमान क्षण के पर्यायमात्र की प्रधानता से पदार्थ का कथन करना "ऋजुसूत्र" है ।[6] इस नय की अपेक्षा से प्रागभाव घटादिकार्य के अव्यवहित पूर्व में रहने वाला उपादान-परिणाम अर्थात् मृत्पिण्ड स्वरूप ही है, और व्यवहारनय की अपेक्षा से मृदादि द्रव्य ही घट-प्रागभाव है ।

प्रध्वंसाभाव की सिद्धि भी ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा से होती है । प्रध्वंसाभाव स्थल में उपादेय क्षण (घटोत्पत्ति स्थिति क्षण) ही उपादान (मृत्पिड रूप कारण) का प्रध्वंसाभाव है । उपादेय क्षण को ही उपादान का प्रध्वंसक्षण माने जाने पर यह आशंका हो सकती है कि उपादेय के उत्तरोत्तर क्षण में प्रध्वंसाभाव का अभाव होने से घट आदि की पुनरुत्पत्ति की आपत्ति होगी । पर इस प्रकार की आशंका उचित नहीं है । क्योंकि कारण में कार्य का नाशकत्व नहीं है । उपादान कारण का विनाश होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर-पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति होती है न कि कार्य के विनाश में कारण की उत्पत्ति का नियम है। प्रागभाव उपादान है और प्रध्वंसाभाव उपादेय है। प्रागभाव का विनाश करता हुआ प्रध्वंस उत्पन्न होता है। घट-पर्याय कपाल-पर्याय का प्रागभाव है।कपाल-पर्याय घट-पर्याय का प्रध्वंस है। प्रागभाव पूर्वक्षणवर्ती कारणरूप तथा प्रध्वंस उत्तरक्षणवर्ती कार्यरूप है। वस्तुतः दोनों अभाव कथंचित् भावरूप हैं। अतएव उक्त स्थल में दो अभावों में सम्बन्ध मानने का प्रसंग ही नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा से मृदादि स्वद्रव्य ही घटोत्तर-काल में घट-प्रध्वंस कहलाता है, यह स्पष्ट है।

प्रत्येक पदार्थ सद सदात्मक है, इसमें विवाद नहीं है। पर अभावांश भी पदार्थ का धर्म होने से यथासम्भव भाव-ग्राहक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से गृहीत होता है। जैसा कि कहा है—जिस मानव को घटयुक्त भूतल का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे ही घट के अभाव में घटाभाव का भी प्रत्यक्ष आदि से ज्ञान होता है।[7] यह कोई नियम नहीं है कि भावात्मक प्रमेय के ग्राहक-प्रमाण को भावरूप और अभावात्मक प्रमेय के ग्राहक-प्रमाण को अभावात्मक ही होना पड़ेगा अभाव के द्वारा भी भाव का ज्ञान सम्भव है। जैसे मेघाच्छन्न आकाश-मण्डल में वृष्टि के अभाव से अनन्त आकाश में वायु की सत्ता रूप भाव पदार्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार भाव के द्वारा भी अभाव का ज्ञान होता है। अग्नि की सत्ता के ज्ञान से शीताभाव का ज्ञान होता है।

अभाव प्रमाण का खण्डन इस रूप में हुआ है[8]—जब भावाभावात्मक अखण्ड पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत हो जाता है, तो फिर अभावांश के ग्रहण के लिये पृथक् अभाव नामक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। अभाव को यदि न माना जाय तो, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि समस्त-व्यवहार विनष्ट हो जायेंगे। क्योंकि पदार्थ की स्थिति अभाव के अधीन है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि दूध में दही का अभाव प्रागभाव है, दही में दूध का अभाव प्रध्वंसाभाव है। घट में पट का अभाव अन्योन्याभाव है और खर विषाण का अभाव अत्यन्ता-भाव है। पर अभाव को भाव-स्वभाव बिना माने ये चारों ही अभाव नहीं घट सकते। अतएव अभाव प्रकारान्तर से भाव रूप ही है। अभाव सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु वह भी वस्तु तत्त्व का उसी तरह एक धर्म है, जिस प्रकार भावांश। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक है और इसलिये अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। अभाव विषयक वह ज्ञान ही अभाव प्रमाण सिद्ध हुआ और वह ज्ञान इन्द्रियजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत है। भावांश ज्ञान के समान अभावांश ज्ञान कराने में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति अविरुद्ध है।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. (क) नयो ज्ञातुरभिप्राय:—लघीयस्त्रय, श्लोक 55 आचार्य अकलंक ।
   (ख) ज्ञातॄणामभिसन्धय: खलु नया:—सिद्धिविनिश्चय टीका पृष्ठ 517—आचार्य अकलंक ।
2. (क) प्रमाणनयतत्त्वालोक 2/1—श्री वादिदेव सूरि ।
   (ख) प्रमाण मीमांसा 1/1/9—10—आचार्य हेमचन्द्र ।
3. (क) स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावात्मकं वस्तु—स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ 176 आचार्य मल्लिषेण ।
   (ख) सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्व-सत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भव: ।
   —प्रमाण मीमांसा पृष्ठ 12, आचार्य हेमचन्द्र ।
4. प्रमाण नयतत्त्वालोकालंकार, परि० 3, सूत्र 52-4 वादिदेव सूरि ।
5. (क) स्याद्वाद रत्नाकर पृष्ठ 575—वादिदेव सूरि ।
   (ख) अष्ट सहस्री पृष्ठ 100—विद्यानन्द स्वामी ।
6. (क) सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधान-परिज्ञानम् ऋजुसूत्र: ।—तत्त्वार्थभाष्य—1/35 ।
   (ख) ऋजु वर्तमान क्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्रधानत: सूत्रयन्नभिप्राय: ऋजुसूत्र: ।—स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ 317 ।
7. अभाव प्रमाणं तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवतीति ।—स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ 310
8. भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निर्विषयोऽभाव:—प्रमाण मीमांसा अ० 1, आ० 1, सू० 12 आचार्य हेमचन्द्र ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली

विदेशी जैन विद्वानों के संदर्भ में

—डा. जगदीश चन्द्र जैन

जैनधर्म और जैनदर्शन पर ढेरों साहित्य प्रकाशित हो रहा है मौजूदा शताब्दी में। एक से एक सुन्दर चमचामाता हुआ डिजाइनदार कवर, बढ़िया छपाई, आकर्षक सज्जा। लेकिन अन्दर के पन्ने पलटने से पता लगता है कि ठगाई हो गई—ऊँची दुकान, फीके पकवान। फिर भी सत्साहित्य की माँग बनी हुई है। देश-विदेश से कितने ही पत्र आते हैं : जैन धर्म पर कोई अच्छी सी पुस्तक बताइये जिसमें रोचक ढंग से जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का वर्णन किया गया हो। दर असल, आजकल के अर्थ प्रधान युग में पुस्तक-लेखन और पुस्तक-प्रकाशन एक व्यवसाय बन गया है, फिर सत्साहित्य का सृजन कैसे हो ? डॉक्टर की पदवी पाने के लिये तो इतनी अधिक मात्रा में शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं कि उनकी तरफ कोई देखने वाला भी नहीं, उनका प्रकाशन होना तो दूर रहा।

विदेशों में ऐसी बात नहीं। जब मैं पश्चिम जर्मनी के कील विश्वविद्यालय में वसुदेवहिंडि पर शोध कार्य कर रहा था तो प्राच्य विद्या विभाग के हमारे डाइरैक्टर महोदय ने बताया कि मुझे छात्रों के अध्यापन पर इतना जोर देने की आवश्यकता नहीं, अपने शोध कार्य पर ही ध्यान केन्द्रित करना उचित है। और विश्वास मानिये, शोध कार्य के लिये जिन-जिन पुस्तकों की मुझे आवश्यकता हुई—वे बाजार में मोल मिलती हों या नहीं—उन्हें हजारों रुपया खर्च करके उपलब्ध कराया गया। कितनी ही अप्राप्य पुस्तकों को इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन से मंगाकर उनकी जेरोक्स कॉपी सुरक्षित की गई। नतीजा यह हुआ कि प्राचीन जैनधर्म के अध्ययन के लिये कील विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी अग्रगण्य समझी जाने लगी।

जर्मनी के विद्वान् खूब ही कर्मठ पाये गये। शोध कार्य करने का उनका अपना अलग तरीका है। सामूहिक कार्य (टीम वर्क) की अपेक्षा वैयक्तिक कार्य पर अधिक जोर रहता है। अपना शोध-प्रबन्ध लिखिये, उसे स्वयं टाइप कीजिये। निर्देशक को मान्य न हो तो उसमें संशोधन-परिवर्तन कीजिये। फिर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कड़ी जांच के पश्चात् परीक्षकों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर ही पदवी सुलभ नहीं हो जाती। मौखिक परीक्षा के लिये परीक्षकों के समक्ष उपस्थित होकर उनके प्रश्नों के उत्तर दीजिये, अपने विषय का प्रतिपादन करने के लिये भाषण दीजिये और यदि आप उपस्थित विद्वन्मंडली को संतोष प्रदान कर सकें तो ही आप डिग्री पाने के हकदार हो सकते हैं। तत्पश्चात् आपके शोध प्रबन्ध का अमुक भाग उच्च कोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता है जिस पर विद्वानों में चर्चा होती है और इसका निर्णय होता है कि आपने अपने शोध प्रबन्ध द्वारा ऐसे कौन से तथ्य की खोज की है जो अब तक अज्ञात था।

इसे सौभाग्य ही समझना चाहिये कि मुझे कील विश्वविद्यालय में १९७० से १९७४ तक जर्मन विद्वानों के साथ रहते हुए शोध कार्य करने का अवसर मिला। इस बीच मैंने उनके कार्य करने की प्रणाली और उनकी सूझ-बूझ का जायजा लेने का प्रयत्न किया। इस तथ्य को समझने की कोशिश की कि क्या कारण है कि वे लोग किसी जैन ग्रन्थ का अध्ययन कर उस पर अपने सुलझे हुए मौलिक विचार प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं—हम उनके वक्तव्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, जबकि हम उसी ग्रन्थ का बार-बार अध्ययन करते रहने पर भी अपने कोई मौलिक विचार नहीं प्रस्तुत कर पाते - उसकी गहराई में प्रवेश नहीं कर पाते।

प्रसन्नता हुई यह जानकर कि इसी कील विश्वविद्यालय में हर्मान याकोबी (१८५०-१९३७) और रिशार्ड पिशल (१८४९-१९०८) जैसे जैन धर्म एवं प्राकृत के धुरंधर विद्वानों ने शोध करते हुए अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा जैन विद्या के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया।

जर्मनी के विद्वानों में हमें सर्वप्रथम आलब्रेख्त वेबर (१८२५-१९०१) का ऋणी होना चाहिये जिन्होंने सबसे पहले विद्वानों को श्वेताम्बर जैन आगमों का परिचय कराने के साथ हर्मान याकोबी जैसे शिष्यों को तैयार किया, जिन्होंने आगे चलकर जैन विद्या के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। याकोबी कुल २३ वर्ष के थे जब हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की खोज में उन्होंने भारत की यात्रा की और लौटकर 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' सीरीज में आचारांग और कल्पसूत्र (१८८४), तथा सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन (१८९५) का अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के साथ अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इन ग्रन्थों के अनुवाद से विदेशी विद्वानों को जैन धर्म का परिचय प्राप्त करने में बहुत सहायता मिली। याकोबी ने अपने अध्ययन को जैन धर्म तक ही सीमित नहीं रखा, उन्होंने प्राचीन प्राकृत कथा साहित्य पर भी कार्य किया! उन्होंने उत्तराध्ययन पर रचित देवेन्द्र गणि की शिष्यहिता नाम की पाइय टीका के आधार से अपनी 'औसगेवेल्ते एर्त्सेलुंगेन इन महाराष्ट्री त्सुर आइन फ्युरूंग इन दास श्टूडिउम देष प्राकृत ग्रामाटिक टैक्स वोएरतरबुख' (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियां—प्राकृत व्याकरण के अध्ययन में प्रवेश करने के लिये) रचना आज से सौ वर्ष पूर्व १८८६ में प्रकाशित की। प्राकृत कथाओं के कुशल सम्पादन के साथ प्राकृत व्याकरण और शब्द कोष भी प्रस्तुत किया गया। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर याकोबी का एक और भी बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा जैन धर्म का बौद्ध धर्म से स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के साथ यह भी सिद्ध किया कि श्रमण भगवान महावीर के पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था। अपने वक्तव्य के समर्थन में उन्होंने प्रमाण उपस्थित किये, केवल कथन मात्र से कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। इसी को नई शोध या रिसर्च कहा जाता है जो आत्मपरक न होकर वस्तुपरक होती है और जिसमें मध्यस्थ भाव की मुख्यता रहती है। हरिभद्र सूरि की शब्दावलि में कहा जा सकता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आग्रही व्यक्ति की युक्ति वहीं जाती है जहाँ उसकी बुद्धि पहुँचती है जब कि निष्पक्ष व्यक्ति की बुद्धि उसकी युक्ति का अनुसरण करती है।

आगे चलकर याकोबी के मन में जैन धर्म सम्बन्धी अधिक जिज्ञासा जागृत हुई। उन्होंने पुनः भारत की यात्रा की योजना बनाई। अब की बार हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में गुजरात और काठियावाड़ का दौरा किया। स्वदेश लौटकर उन्होंने अपभ्रंश के भविसत्त कहा और सणक्कुमार चरिउ नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाशित किया। उनके शोधपूर्ण कार्यों के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें डॉक्टर ऑव लैटर्स, तथा जैन समाज की ओर से जैन दर्शन दिवाकर की पदवी से सम्मानित किया गया। आज से एक शताब्दी पूर्व जैन विद्या के क्षेत्र में किया हुआ प्रोफेसर हर्मान याकोबी का अनुसन्धान उतना ही उपयोगी है जितना पहले था।

कील विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में जैन विद्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले दूसरे धुरंधर विद्वान् हैं रिशार्ड पिशल। देखा जाय तो भारतीय आर्य भाषा (इण्डो यूरोपियन) के अध्ययन के साथ प्राकृत भाषाओं का ज्ञान आवश्यक हो गया था। पिशल का कहना था कि संस्कृत के अध्ययन के लिये भाषा शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और यूरोप के अधिकांश विद्वान् इसके ज्ञान से वंचित हैं। कहना न होगा कि प्राकृत-अध्ययन के पुरस्कर्ताओं में पिशल का नाम सर्वोपरि है। पिशल द्वारा किये हुए श्रम का अनुमान इसी पर से लगाया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब कि आगम-साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ था, अप्रकाशित साहित्य की सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियों को पढ़-पढ़कर, उनके आधार से प्राकृत व्याकरण के नियमों को सुनिश्चित रूप प्रदान करना, कितना कठिन रहा होगा।

पिशल 'ऐलीमेण्टरी ग्रामर आव संस्कृत' के सुप्रसिद्ध लेखक ए० एफ० स्टेन्त्सलर (१८०७-१८७७) के प्रमुख शिष्यों में थे। यूरोप में संस्कृत सीखने के लिये आज भी इस पुस्तक का उपयोग किया जाता है। पिशल ने प्राकृत ग्रंथों के आधार से अपने 'ग्रामाटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन' (प्राकृत भाषा का व्याकरण) नामक अमर ग्रन्थ में अत्यन्त परिश्रमपूर्वक प्राकृत भाषाओं का विश्लेषण कर उनके नियमों का विवेचन किया है। मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के अनुपम कोश आचार्य हेमचन्द्रकृत देशी नाममाला का भी गेओर्ग ब्युहलर (१८३७-१८९८) के साथ मिलकर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर जर्मनी से मद्रास पहुँचकर वे कलकत्ता के लिये रवाना हो रहे थे कि उनके कान में ऐसा भयंकर दर्द उठा जिसने उनकी जान ही लेकर छोड़ी।

अर्न्स्ट लायमान (१८५९-१९३१) जैन विद्या के एक और दिग्गज विद्वान् हो गये हैं। आलब्रेख्त वेबर के वे प्रतिभाशाली शिष्य थे। स्ट्रासबर्ग में प्राच्य विद्या विभाग में प्रोफेसर थे, वहीं रहते हुए उन्होंने हस्तलिखित जैन ग्रंथों की सहायता से जैन साहित्य का अध्ययन किया। जैन साहित्य उन दिनों प्रायः अज्ञात अवस्था में था। भारत एवं यूरोप में प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के आधार से उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथों का परिचय प्राप्त किया। लायमान सूझ-बूझ के बहुत बड़े विद्वान् थे जिन्होंने श्वेताम्बरीय आगमों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया था। जैन आगमों पर रचित निर्युक्ति एवं चूर्णी साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हीं को है, जो साहित्य विदेशी विद्वानों को अज्ञात था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत साहित्य का अध्ययन कर भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उन्होंने अनेक प्रश्न उपस्थित किये। औपपातिक सूत्र को अपनी शोध का विषय बनाकर उसका आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित (१८८२) किया। दशवैकालिक सूत्र और उसकी निर्युक्ति का जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया। लेकिन आवश्यक सूत्र उन्हें सर्वप्रिय था। आवश्यक सूत्र की टीकाओं में उल्लिखित कथाओं को लेकर १८९७ में उन्होंने 'आवश्यक एर्त्सेलुंगेन' (आवश्यक कथायें) प्रकाशित किया, लेकिन इसके केवल चार फर्मे ही छप सके। अपने अध्ययन को आवश्यक सूत्र पर उन्होंने विशेष रूप से केन्द्रित किया जिसके परिणामस्वरूप 'यूबेरजिस्त यूबेर दी आवश्यक लितरातूर' (Übersicht über die Āvaśyaka Literatur = आवश्यक साहित्य का सर्वेक्षण) जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की गई। सम्भवतः वे इसे अपने जीवनकाल में समाप्त नहीं कर सके। आगे चलकर हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर शूब्रिंग द्वारा सम्पादित होकर, १९३४ में इसका प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त, पादलिप्तसूरिकृत तरंगवइकहा का 'दी नोने' (Die Nonne) शीर्षक के अन्तर्गत लायमान ने जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया (१९२१)। इस रचना का समय ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना गया है। विशेषावश्यक भाष्य का अध्ययन करते समय जो विभिन्न प्रतियों के आधार से उन्होंने पाठान्तरों का संग्रह किया, उससे पता चला कि किसी पाठक ने इस ग्रंथ के सामान्यभूत के प्रयोगों को बदलकर उनके स्थान में वर्तमानकालिक निश्चयार्थ के प्रयोग बना दिये हैं।[1]

वाल्टर शूब्रिंग (१८८१-१९६९) जैन आगम साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हो गये हैं। नौरवे के सुप्रसिद्ध विद्वान् और नौरवेजियन भाषा में वसुदेव हिंडि के भाषान्तरकार (ओसलो से १९४६ में प्रकाशित) स्टेन कोनो के स्वदेश लौट जाने पर, हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के डाइरैक्टर के पद पर प्रोफेसर शूब्रिंग को नियुक्त किया गया। जैन आगम ग्रन्थों में उनका ध्यान छेदसूत्रों की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इस साहित्य का मूल्यांकन करते हुए अपनी टिप्पणियों के साथ कल्प, निशीथ और व्यवहार छेदसूत्रों का सम्पादन किया। महानिशीथ सूत्र पर इन्होंने शोधकार्य किया, अपनी जर्मन प्रस्तावना के साथ उसे १९१८ में प्रकाशित किया (बेलजियम के विद्वान् जोसेफ़, द ल्यू (Deleu) के साथ मिलकर १९३३ में, और एफ० आर० हाम (Hamm) के साथ मिलकर १९५१ में प्रकाशित)। आचारांग सूत्र की प्राचीनता की ओर उनका ध्यान गया, इस सूत्र का उन्होंने संपादन किया तथा आचारांग और सूत्रकृतांग के आधार से वोर्तेस महावीरस' (Worte Mahaviras = महावीर के वाक्य, १९२६ में प्रकाशित) प्रकाशित किया। उन्होंने समस्त आगम ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'द लेहरे डेर जैनाज़' (Die Lehre der Jainas = जैनों के सिद्धान्त, १९३५ में प्रकाशित) प्रकाशित हुई। उनकी यह कृति इतनी महत्त्वपूर्ण समझी गई कि १९६२ में उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

जर्मन परम्परा के अनुसार, किसी विद्वान् व्यक्ति के निधन के पश्चात् उसकी संक्षिप्त जीवनी और उसके लेखन कार्यों का लेखा-जोखा प्रकाशित किया जाता है। लेकिन महामना शूब्रिंग यह कह गये थे कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके सम्बन्ध में कुछ न लिखा जाये। हाँ, उन्होंने जो समय-समय पर विद्वत्तापूर्ण

1. आल्सडोर्फ, 'द वसुदेव हिंडि, ए स्पेसीमैन ऑव आर्किक जैन महाराष्ट्री', बुलेटिन ऑव स्कूल ऑव ओरिण्टियेल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज़, 1936, पृ० 321 फुटनोट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेख प्रकाशित किये थे, उनका संग्रह डबल्यू० शूब्रिंग क्लाइने श्रिफ्टेन (लघु निबन्ध, १९७७) के नाम से प्रकाशित किया गया।[1]

लुडविग आल्सडोर्फ (१९०४–१९७८) जर्मनी के एक बहुश्रुत प्रतिभाशाली जैन विद्वान् हो गये हैं। आल्सडोर्फ लायमान के सम्पर्क में आये और याकोबी से उन्होंने जैन विद्या के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त की। शूब्रिंग को वे अपना गुरु मानते थे। जब इन पंक्तियों के लेखक ने हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में उनके कक्ष में प्रवेश किया तो देखा कि शूब्रिंग का एक सुन्दर फोटो उनके कक्ष की शोभा में वृद्धि कर रहा है।

१९५० में शूब्रिंग के निधन होने के पश्चात् उनके स्थान पर आल्सडोर्फ को नियुक्त किया गया। आल्सडोर्फ इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जर्मन भाषा के अध्यापक रह चुके थे अतएव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से उनका सुपरिचित होना स्वाभाविक था। इलाहाबाद में रहते-रहते उन्होंने एक गुरुजी से संस्कृत का अध्ययन किया व्याकरण की सहायता के बिना ही। आल्सडोर्फ का ज्ञान अगाध था, उनसे किसी भी विषय की चर्चा चलाइये, आपको फौरन जवाब मिलेगा। एक बार मैं उनसे साक्षात्कार करने के लिए हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय में गया। संयोग की बात उस दिन उनका जन्म-दिन मनाया जा रहा था। विभाग के अध्यापक और कुछ छात्र आयोजन में उपस्थित थे। आल्सडोर्फ धारा प्रवाह बोलते चले जा रहे थे और श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। हास्य एवं व्यंगमय उनकी उक्तियाँ उनकी प्रतिभा की द्योतक जान पड़ रही थीं। अपनी भारत यात्राओं के सम्बन्ध में बहुत से चुटकुले उन्होंने सुनाये। भारत के पण्डितगण जब उन्हें 'अनार्य' समझकर उनके मंदिर-प्रवेश पर रोक लगाते तो वे झट से संस्कृत का कोई श्लोक सुनाकर उन्हें आश्चर्य में डाल देते और फिर तो मन्दिर के द्वार स्वयं खुल जाते। जैन पाण्डुलिपियों की खोज में उन्होंने खम्भात, जैसलमेर और पाटण आदि की यात्रायें की थीं और जब उन्होंने इन भाण्डागारों में दुर्लभ ताड़पत्रीय हस्तलिखित प्रतियों के दर्शन किये तो वे आश्चर्य के सागर में डूब गये। अपनी यात्रा के इस रोचक विवरण को उन्होंने 'शूब्रिंग-अभिनन्दन ग्रन्थ' में 'प्राचीन जैन भण्डारों पर नया प्रकाश' नाम से प्रकाशित किया जो हाम्बुर्ग की 'प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय अध्ययन' नामक पत्रिका में (१९५१) प्रकाशित हुआ है। पश्चिम के विद्वानों को यह जानकर ताज्जुब हुआ कि मुनि पुण्यविजय जी महाराज ने कितने परिश्रम से इतनी अधिक संख्या में मूल्यवान पाण्डुलिपियों को सुरक्षित बनाया है।

आल्सडोर्फ के लिए प्राच्य विद्या का क्षेत्र सीमित नहीं था। उनका अध्ययन विस्तृत था जिसमें जैन, बौद्ध, वेद, अशोकीय शिलालेख, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ, भारतीय साहित्य, भारतीय कला तथा आधुनिक भारतीय इतिहास आदि का समावेश होता था। भाषा विज्ञान सम्बन्धी उनकी पकड़ बहुत गहरी थी जिससे वे एक समर्थ आलोचक बन सके थे। क्रिटिकल पालि डिक्शनरी के वे प्रमुख

---

1. प्रोफेसर शूब्रिंग के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये देखिये कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला 'जैन जर्नल', का शूब्रिंग स्पेशल अंक (जनवरी, १९७०)। इस अंक में 'इण्डो एशियन कल्चर', नई दिल्ली के भूतपूर्व सम्पादक डॉक्टर अमूल्यचन्द्र सेन का एक महत्त्वपूर्ण लेख है, जो शूब्रिंग से जैनधर्म का अध्ययन करने के लिए १९३३ में हाम्बुर्ग गये थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक थे जिसका प्रारम्भ सुप्रसिद्ध वी० ट्रेकनेर के सम्पादकत्व में हुआ था। वसुदेवहिंडि की भाषा को लेकर उन्होंने जो 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिण्टियल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज्' नामक पत्रिका (१९३६) में 'द वसुदेव हिंडि : ए स्पेसीमैन ऑव आर्किक जैन महाराष्ट्री' नामक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किया है, वह निश्चय ही उनकी गम्भीर विद्वत्ता की ओर लक्ष्य करता है। प्राकृत और पालि के साथ-साथ अपभ्रंश पर भी उनका अधिकार था। सोमप्रभ सूरि के कुमारपाल पडिबोह ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध लिखकर उन्होंने पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त की (१९२८ में प्रकाशित)। प्रोफेसर याकोबी की प्रेरणा प्राप्त कर पुष्पदन्तकृत हरिवंस पुराण तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार) पर शोधकार्य किया (१९३६ में प्रकाशित)। इसके सिवाय, कितने ही खोजपूर्ण उनके निबन्ध प्राच्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अगड़दत्त की कथा को लेकर 'न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' (१९३८) में उनका एक खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। आल्सडोर्फ के निबन्धों का संग्रह आलब्रेख्त वेतसलेर द्वारा सम्पादित 'लुडविग आल्सडोर्फ : क्लाइने श्रिफ्टेन' में देखा जा सकता है। यह ग्रन्थ ग्लासेनप्प फाउण्डेशन की ओर से १९७४ में प्रकाशित हुआ है।

आल्सडोर्फ का एक दूसरा भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। वह है प्राचीन महाराष्ट्री में रचित संघदास गणि वाचक कृत वसुदेवहिंडि की ओर विश्व के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना। १९३८ में, अब से ४८ वर्ष पूर्व, रोम की १९वीं ओरिण्टियल कांग्रेस में उन्होंने एक सारगर्भित निबन्ध पढ़ा जिसमें पहली बार बताया गया कि वसुदेवहिंडि सुप्रसिद्ध गुणाढ्य की नष्ट बड्डकहा (बृहत्कथा) का नया रूपान्तर है। जैसा कहा जा चुका है, १९७०–१९७४ में इन पंक्तियों का लेखक कील विश्वविद्यालय इसी विषय पर शोधकार्य करने में संलग्न था। इसी को लेकर कई बार प्रोफेसर आल्सडोर्फ के साथ चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इधर वसुदेवहिंडि को लेकर भारत के बाहर विदेशों में शोधकार्य में वृद्धि हो रही है, लेकिन दुर्भाग्य से मूल प्रति के अभाव में जैसा चाहिए वैसा कार्य नहीं हो पा रहा है। वर्तमान वसुदेवहिंडि की प्रति १९३०-१९३१ में मुनि चतुरविजय एवं मुनि पुण्य विजय द्वारा सम्पादित होकर भावनगर से प्रकाशित हुई थी। प्रोफेसर आल्सडोर्फ से इस सम्बन्ध में चर्चा होने पर उन्होंने कहा कि अन्य किसी शुद्ध पांडुलिपि के अभाव में, यही सम्भव है कि प्रकाशित ग्रन्थ की पाद टिप्पणियों में दिये हुए पाठान्तरों के आधार से इसका पुनः सम्पादन किया जाये। उनका यह मत मुझे ठीक जँचा, क्योंकि कितने ही स्थलों पर मैंने 'द वसुदेव हिंडि : ऐन ऑथेण्टिक जैन वर्जन ऑव द बृहत्कथा' (१९७७) नामक अपनी रचना में इन पाठान्तरों का उपयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जर्मनी में जैन विद्या के अध्ययन को लेकर गुरु-शिष्य परम्परा में एक के बाद एक प्रकाण्ड विद्वान् पैदा होते गये जिन्होंने जैनधर्म, जैन दर्शन और प्राकृत के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। हेलमुथ फॉन ग्लासेनप्प (१८९१–१९६३) याकोबी के प्रमुख शिष्यों में से थे। लोकप्रिय शैली में उन्होंने जैनधर्म सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। जैनधर्म और कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उनकी पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी में हुए हैं। उनकी एक पुस्तक का नाम है 'इण्डिया ऐज़ सीन बाई जर्मन थिंकर्स' (भारत जर्मन विचारकों की दृष्टि में) है। उन्होंने अनेक बार भारत की यात्रा की। उनकी यात्रा के समय प्रस्तुत लेखक को उनसे भेंट करने का अवसर मिला था।

विशेष उल्लेखनीय है कि आल्सडोर्फ सेवानिवृत्त होने पर भी उसी उत्साह और जोश से शोध कार्य करते रहे जैसे पहले करते थे और विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें पहले जैसी सभी सुविधायें मिलती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहीं। उन्होंने अनेक शिष्य तैयार किये। इनमें क्लाउस ब्रून, १९६६ से ही बर्लिन के फ्राइ विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को बर्लिन में प्रोफेसर ब्रून से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने शीलांक के 'चउप्पन्न महापुरिस-चरिय' का सम्पादन (१९५४) किया है। उनका दूसरा उल्लेखनीय कार्य है आवश्यक का विस्तृत अध्ययन जो 'आवश्यक स्टडीज १' नाम से 'जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का अध्ययन' नामक आल्सडोर्फ अभिनन्दन ग्रन्थ (१९८१) में ३८ पृष्ठों (११-४९) में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने सहयोगी प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी के साथ मिलकर अर्न्स्ट वाल्डश्मित के ८०वें जन्म दिवस पर प्रकाशित उनके अभिनन्दन ग्रंथ में 'जैन शब्दानुक्रमणिका एवं भाष्य शब्दानुक्रमणिका' नामक लेख प्रकाशित किया है (बर्लिन, १९७७)। प्रोफेसर एडेलहाइड मेट्टे आल्सडोर्फ की एक अन्य विदुषी शिष्या हैं जो आजकल म्यूनिक विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या-विभाग में कार्य रही हैं। ओघनिर्युक्ति पर इन्होंने कार्य किया है। समय-समय पर जर्मन पत्रिकाओं में इनके शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इनका एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध उक्त आल्सडोर्फ अभिनन्दन ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है जिसमें बृहत्कल्प भाष्य (१. ११५७-११५८) की कथा की बौद्धों के मूसिक जातक से तुलना करते हुए, बृहत्कल्प भाष्य की उक्त गाथाओं की प्राचीनता पर प्रकाश डाला गया है। इन पंक्तियों के लेखक को अपनी म्यूनिक-यात्रा के समय श्रीमती मेट्टे से भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसंग पर बर्लिन की फ्राई विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्लाउस ब्रून के सहयोगी प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी के नाम का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिन्होंने स्ट्रासबर्ग की लाइब्रेरी में उपलब्ध जैन पांडुलिपियों पर उत्पन्न महत्वपूर्ण शोध कार्य किया है। उनकी यह कैटेलोग ऑव द जैन मैनुस्क्रिप्ट्स ऐट स्ट्रासबर्ग' नामक महत्वपूर्ण कृति भूमिका, परिशिष्ट, प्लेट्स और मानचित्र के साथ लाइडन (हालैण्ड) से १९७५ में प्रकाशित हुई।

जर्मनी के अन्य विद्वानों में पंचतंत्र के सुप्रसिद्ध सम्पादक और प्राकृत जैन साहित्य के विशिष्ट अध्येता तथा 'द लिटरेचर ऑव श्वेताम्बर जैन्स ऑव गुजरात' (१९२२) के लेखक जोआनेस हर्टल (१८७२-१९५५), 'महावीर तथा बुद्ध कालीन भारतीय दर्शन' (१९०२) के लेखक फ्रीडरिख ओटो श्राडेर, गुइटिंगन विश्वविद्यालय में बौद्ध एवं जैन विद्या के विद्वान् गुस्ताफ रॉथ, और 'राजा नमि की प्रव्रज्या' (१९७९) के जर्मन भाषान्तरकार, जर्मन गणतन्त्र में हाम्बोल्ट विश्वविद्यालय, बर्लिन में प्राकृत के विद्वान् बोल्फ गांग मौरगेन रॉथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विदेश के अन्य विद्वानों में अमरीका के नार्मन ब्राउन, अर्नेस्ट बेण्डर, चेकोस्लोवाकिया के मौरिस विण्टरनीत्स, स्वीडन के जार्ल शार्पेण्टियर, बेल्जियम के द' ल्यू, फ्रांस की मैडम क' या (Caillat) आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। विस्तार भय से इस लेख में उनके एवं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org